International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 01-03-2022, Accepted: 15-03-2022, Published: 30-03-2022
Volume 4, Issue 1, 2022, Page No. 24-28

'हुल पहाड़िया' उपन्यास में पहाड़िया आन्दोलन के ऐतिहासिक संदर्भ

सियाराम मीणा
शोधार्थी, हिन्दी अध्ययन केंद्र, गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर, गुजरात, भारत

सारांश
साम्राज्यवादी, वर्चस्ववादी ताकतों के खिलाफ आदिवासियों का संघर्ष श्रृंखलाबद्ध आन्दोलन के रूप में औपनिवेशिक काल से वर्तमान समय तक अनवरत चल रहा है। औपनिवेशिक काल से लेकर वर्तमान समय तक आदिवासी समुदाय अपनी अस्मिता, अस्तित्व, जल, जंगल जमीन के साथ साथ परंपरागत अधिकारों, स्वशासन को सुरक्षित एवं सरंक्षित करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। आदिवासियों के इसी संघर्ष को हिन्दी साहित्यकारों में अपनी रचनाओं में प्रमुखता से स्थान दिया है। इस परम्परा में राकेश कुमार सिंह ने अपने उपन्यास 'हुल पहाड़िया' के माध्यम से आदिवासी संघर्ष को सामने लेकर आने का सफल प्रयास किया है। इस उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह ने पहाड़िया आन्दोलन को उभारने का सफल प्रयास किया है। इस उपन्यास में आदिवासियों के संघर्ष का सामूहिक स्वर उभर कर आता है। यह सामूहिक संघर्ष उनकी अस्मिता व अस्तित्व को सुरक्षित एवं सरंक्षित करने का हथियार भी है। औपनिवेशिक काल में आदिवासियों क संघर्ष चेतना परम्परा तिलका मांझी से लेकर सिदो–कानो, बिरसा मुंडा, टंटया भील से जयपाल सिंह मुंडा तक दिखाई देती हैं।

मूल शब्दः आदिवासी आदोलन, जल, जंगल जमीन, स्वायत्त स्वशासन

प्रस्तावना

आरंभिक औपनिवेशिक काल को सामाजिक, आर्थिक संक्रमण और राजनैतिक परिवर्तनों एवं संघर्षों का आख्यान कहा जा सकता है। इस समय भारत में औपनिवेशिक सत्ता का प्रभाव तेजी से फैलने लगा था। जिसके कारण प्राचीन राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएं अपनी अपना अस्तित्व खो रही थी। उत्तर भारत में मुग़ल बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुग़ल साम्राज्य का विघटन होने लगा और धीरे–धीरे पूरे देश में अराजकता और अशांति का वातावरण बनने लगा। औरंगजेब के उतराधिकारी अयोग्य और शक्तिहीन होने होते जा गए। दूसरी तरफ ईस्ट इण्डिया कंपनी बिहार और बंगाल में भी अपना प्रभुत्त्व कायम करने में लगी थी। "छोटानागपुर सहित झारखण्ड के अन्य हिस्से 1765 में ब्रिटिशराज के हिस्से बन गये।"[1] औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही सदियों से चली परम्परागत सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सस्थाओं में बदलाव आने लगे। ईस्ट इण्डिया कंपनी की व्यापार नीतियों का सीधा प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर होने लगा। ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार कृषि का बाजारीकरण किये जाने इससे जुड़े लोगों पर आर्थिक संकट आने लगे। ग्रामीणों की आवश्यकताओं से सम्बंधित लगभग सभी प्रकार के व्यवसायों से सम्बद्ध लोग गांवों में निवास करते थे। जमीन और जंगल पर आधारित स्त्रोत ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पूरक तत्व थे। ब्रिटिशकालीन भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बारे में कार्ल मार्क्स लिखते हैं कि "गाँव में जिन वस्तुओं का उत्पादन होता था उनका विनिमय गाँव की जनता तक ही सीमित था। कृषक फसल उगाता था, दूसरे कारीगर जैसे लुहार, बढ़ई, चमड़े का काम करने वाले, बुनकर आदि अन्य वस्तुओं का निर्माण करते थे। इस तरह गाँव का सम्पूर्ण उत्पादन का उपयोग गाँव की जनता ही करती थी।"[2] भारत में औपनिवेशिक सत्ता की स्थापना के साथ ही आर्थिक विकास के नए मूल्य स्थापित किये गए। बाजारीकरण के नए तरीके का सूत्रपात हुआ। व्यापक स्तर पर भूमि को निजी सम्पति में तब्दील किया गया। औपनिवेशिक सत्ता ने नए कानून बनाकर उत्पादन, उपभोक्तावादी आर्थिक संस्कृति को बढ़ावा दिया, जिसका मूल उद्देश्य अपने औपनिवेशिक हितों की रक्षा और संपोषण करना था। इसलिए कृषि और जंगलों पर आधारित आर्थिक–सामाजिक व्यवस्था को कमजोर किया गया। कृषि का वाणिज्यकरण किया गया ताकि आदिवासी क्षेत्रों में घुसपैठ की जा सके। इस नई कृषि की वाणिज्य नीतियों ने आदिवासियों के परम्परागत हाट, जोकि उनके सामाजिक अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार था, उस पर सीधा हमला किया। आदिवासी जो अभी तक झूम कृषि प्रणाली के तहत खेती करते आ रहे थे।

बंगाल और बिहार में ईस्ट इण्डिया कंपनी को दीवानी अधिकार मिलने के बाद इसके अधिकारी और कर्मचारी बेहिसाब तरीके से आदिवासी किसानों से लगान वसूल करने लगे। जिससे आदिवासी–किसानों के सामने एक नया आर्थिक संकट पैदा हो गया। आदिवासियों के जंगलों पर परंपरागत अधिकारों को समाप्त किया जाने लगा। ब्रिटिश सत्ता ने आदिवासियों की परम्परागत आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में दखल देना प्रारंभ कर दिया था। जिसके कारण आदिवासी समुदायों में आक्रोश पनपने लगा। "आदिवासी इलाकों में बाहरी लोगों और औपनिवेशिक राज की घुसपैठ ने उनकी पूरी सामाजिक व्यवस्था को उलट–पुलट दिया। उनकी जमीन उनके हाथ से निकलती गई और धीरे–धीरे किसान मजदूर बनते चले गये। जंगलों के उनके गहरे रिश्ते को भी औपनिवेशिक हमले ने तोड़ दिया। इससे पहले वे भोजन, ईधन और पशुओं के लिये चारा आदि जंगलों से जुटाते थे, जहाँ उनका जीवन पूरी तरह स्वच्छंद था। खेती के उनके अपने तरीके थे।"[3] उपनिवेशवादी सत्ता को प्राकृतिक संसाधनों में बड़ा मुनाफा दिखाई देने लगा। जिसके चलते जंगलों, पहाड़ों और खनिज संसाधनों पर कब्ज़ा करने की नीतियां बनाई जाने लगी। जिसके खिलाफ पूर्व बिहार (झारखंड) के पहाड़िया आदिवासियों

ने प्रतिरोध करना शुरू कर दिया। औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ आदिवासी प्रतिरोध के स्वरों की तीन चरणों में रखा जा सकता है।

प्रथम चरण (1765ई. से1860) जिसमें औपनिवेशिक सत्ता का उत्थान, प्रसार और स्थापना के प्रतिरोध में चलने वाले आदिवासी आन्दोलन। दूसरे चरण में (1860–1920) औपनिवेशिक सत्ता की साम्राज्यवादी और पूंजीवादी नीतियों के विकसित चरण के खिलाफ चलने आदिवासी आन्दोलन और तीसरा चरण (1920–1947) में उन आदिवासी आन्दोलनों को रखा जा सकता है जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ साथ चल रहे थे। भारत में ईस्ट इण्डिया कंपनी शासन की स्थापना के साथ ही खेतिहर और जंगलों से उपज प्राप्त करने वाले आदिवासी समुदायों पर आर्थिक दबाव बढ़ता गया। जंगलों से आदिवासियों के परम्परागत अधिकारों को समाप्त किये जाने लगा। एक तरह से आदिवासियों के सामने नया आर्थिक संकट सामने आ खड़ा हुआ। इस बढ़ते आर्थिक संकट से आदिवासियों की सामाजिक व्यवस्था में दखल होने लगा। आदिवासी इलाकों में बाहरी लोगों और औपनिवेशिक राज की घुसपैठ ने उनकी पूरी आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक व्यवस्था को उलट–पुलट दिया। जंगलों और पहाड़ों से के उनके गहरे रिश्तों को भी औपनिवेशिक हमले ने तोड़ना आरम्भ का दिया। इससे पहले वे भोजन, ईधन और पशुओं के लिए चारा आदि जंगलों से जुटाते थे, जहाँ उनका जीवन पूरी तरह स्वच्छंद था। खेती के उनके अपने तरीके थे। ब्रिटिश सरकार ने कई बड़ी यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों को विशेष कर वन उत्पादों के व्यापार को इजारेदारी सौंप दी। जंगलों में सदियों से रहते आ रहे आदिवासियों पर शिकार करने, जंगल के उत्पादों पर सहित जंगल में पशु चराने तक पर रोक लगा दी गई। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने प्रकृति और आदिवासियों के बीच सदियों से चले आ रहे सम्बन्ध को तोड़ने का कार्य आरम्भ कर दिया। खेती की जमीन जो अभी तक सामुदायिकता पर आधारित थी उसे निजी घोषित कर दिया गया। आदिवासियों के प्राकृतिक दृष्टिकोण पर मानव निर्मित सत्ता को थोपना शुरू कर दिया। औपनिवेशिक सत्ता के द्वारा वन विभाग की स्थापना के बाद से जंगलों के पर कंपनी से जुड़े लोगों ने अधिकार जमाना शुरू कर दिया। "सन 1772ई. में बंगाल के गर्वनर वारेन हेस्टिंग्स ने कप्तान ब्लक के नेतृत्व में 800 सैनिकों की टुकड़ी इस क्षेत्र में भेजी, इस निर्देश के साथ कि पहाड़िया को काबू में कर उनसे इस क्षेत्र में व्यवस्थित ढंग से खेतीबारी करानी है।"[4] जिसके खिलाफ आदिवासियों किसानों में विद्रोह की भावना पनपने लगी। इसके साथ इन क्षेत्रों में बाहरी लोगों का आगमन तेजी से हुआ। "छोटानागपुर में इन बाहरी लोगों को 'दीकू' कहा जाता था, जिसका तात्पर्य उन लोगों से था 'जो परेशान करते है रू बाहर वाले पूंजीवादी साहूकार।"[5] अंग्रेज व्यापारी, कंपनी कर्मचारियों के साथ–साथ साहूकार और बिचौलिये भी आदिवासियों का शोषण करने लगे थे। कंपनी के द्वारा सैनिक बल भेजकर इन क्षेत्रों जबरन लगान वसूल किया जाना लगा। जिसके खिलाफ बंगाल और बिहार के आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों का प्रतिरोध तेजी से बढ़ने लगा। इससे पहले इन क्षेत्रों में जिस भी शासक घुसने की कोशिश की उनका तीव्र विरोध आदिवासियों ने किया है। मुग़ल शासक "अकबर के शासनकाल में जब राजा मानसिंह बंगाल–विजय पर निकले तो मानिहारी के खेतिहर परिवारों के सदस्यों ने साकरगढ़ के किले को फतह करने में राजा मानसिंह की मदद की। इनसे खुश होकर राजा मानसिंह ने राजमहल की जागीरदारी किसान परिवार के हवाले कर दी। परन्तु वहां के पुराने बाशिंदे, जिनमें संताल और पहाड़िया थे–ने कभी भी उस किसान परिवार के जागीरदार की अधीनता स्वीकार नहीं की। फलस्वरूप लगातर कई लडाइयों के पश्चात् उन्होंने सन 1765 के लगभग किसान जागीदार एवं उसके परिवार को साकरगढ़ किले से मार भगाया।"[6] प्लासी युद्ध के पश्चात् इन क्षेत्रों में औपनिवेशिक शक्ति का प्रसार तेजी से होने लगा। जिसके खिलाफ सबसे पहले आदिवासी प्रतिरोध रमना पहाड़िया के नेतृत्व में सामने आता है। जिसका बारे में राकेश कुमार सिंह 'हुल पहाड़िया' में उपन्यास में लिखते हैं कि "फिरंगियों को जंगल तराई की दीवानी मिलने के बाद थीतोनाला, जामताड़ा और कुड़हईत में कंपनी सरकार का विरोध करते हुए लड़ मरा था रमना आहाड़ी। मंचला पहाड़ की तराई पहाड़ियां लोगों के रक्त से तर हो गई थी! कंपनी सरकार की कर वसूली के विरुद्ध लड़ मरा था मनसा पहाड़ियां।"[7]

औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ झारखण्ड में रमना पहाड़िया के इस प्रतिरोध को प्रथम आदिवासी संघर्ष माना जाता है। जिसके बारे में रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि "1766 में सरदार रमना अल्हाड़ी 1200 पहाड़ियां सैनिक की टुकड़ी लेकर मुगलों और अंग्रेजों की संयुक्त सेना के सामने आ डटे। मांचला पहाड़ की तराई में दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ।"[8] इस आदिवासी आन्दोलन के बाद से औपनिवेशिक सत्ता दमन बढ़ता चला गया। ब्रिटिश सरकार ने "1728 में बिना जुते क्षेत्र, घास के मैदान, चरागाह एवं जंगलों को राजकीय सम्पति मान लिया गया।"[9] जिसके कारण आदिवासियों के आर्थिक और सामाजिक जीवन में बदलाव आने लगे। ईस्ट इण्डिया कंपनी के इसी शोषण के खिलाफ आदिवासी प्रतिरोध के स्वर तेज होते गए। जिसका नेतृत्व अब तिलका मांझी कर रहे थे। राकेश कुमार सिंह का 'हुल पहाड़िया' उपन्यास तिलका मांझी के नेतृत्व में चल रहे आदिवासी पहाड़िया आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही लिखा गया है। इस समय में पड़े भीषण अकाल ने सामान्य जनजीवन को अधिक प्रभावित किया। आदिवासी रैय्यतों से सस्ते दामों का धान और अन्य अनाज की खरीद करके उसे अकाल के समय ऊँचे दामों पर बेचा जाने लगा। अंग्रेजों की इन नीतियों के बारे में जिसके बारे में उपन्यासकार लिखतें हैं कि "अंग्रेज भविष्य द्रष्टा नहीं थे। दूरदर्शी व्यापारी थे। चावल के निर्यातक थे, जो धीरे–धीरे चावल खरीदते थे, पर अगले वर्ष की अल्पवृष्टि ने चावल की खरीद को तेज कर दिया था। इसके अगले वर्ष में तो ढूंढ–ढूंढ कर चावल ख़रीदा जाने लगा था। गाँव–देहात से बैल गाड़ियों का कलकत्ता तक ताँता लग गया था सर्वनाशी चावल खरीद के महाभियान के बाद तो गाँव जंगल के लोगों के पास जहर खरीदने भर का धान नहीं बचा था।"[10] जिसके चलते आदिवासियों के सामने कई तरह के संकट आने लगे थे। भीषण अकाल के समय भी आदिवासी रैय्यतों से ऊँची दर पर लगान वसूला जा रहा था। इस आर्थिक शोषण खिलाफ तिलका मांझी के नेतृत्व में आदिवासी औपनिवेशिक सत्ता के पुलिस और राजस्व इकट्ठा करने वाले पर गुरिल्ला पद्धति से हमले करने लगे थे। जिसके बारे में उपन्यासकार लिखता है कि "वे छोटे–छोटे गिरोहों में बिखर कर शिकार कर रहे हैं। वे घात लगाते हैं। घेरते हैं। जनरल बार्कर दांत पीस रहा था।"[11] आदिवासी समूहों की परम्परागत आर्थिक संस्थाएं जोकि वस्तु–विनियम पद्धति से चल रही थी। उन पर औपनिवेशिक शक्तियों की इन नीतियों से सीधा अतिक्रमण होने लगा। आदिवासियों की परम्परागत आर्थिक संस्थाओं को पूंजीवादी बाजार से जोड़ने की प्रक्रिया को ब्रिटिश व्यापारियों ने प्रारंभ कर दिया था।

जिसके चलते आदिवासियों की सामाजिक – आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ने लगे थे। इस स्थिति के बारे में राकेश कुमार अपने उपन्यास 'हुल पहाड़िया' में लिखते हैं कि "अकाल की काली छाया अरण्य के थलचर–नभचर को निगलती जा रही थी। घास–पात के बिना शाकाहारी मर रहे थे। मांस के बिना मांसाहारियों के प्राण संकट में थे। निरभ्र नीले चमकते आकाश में तैर रहे थे गिद्धों के झुण्ड।"[12] इतिहासकारों का मत है कि 'इस अकाल से लगभग बंगाल में एक करोड़ से अधिक लोग प्रभावित हुए और लाखों की संख्या में लोगों की मौत हुई।' इस अकाल से उपजी परिस्थितियों के बारे में रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि "इस अकाल के कारण सारे राजमहल, वीरभूमि, तेलियागढ़, भागलपुर आदि इलाके के जनजीवन में त्राहिमाम मच गया।"[13] इस अकाल की मार, बढ़ती लगान दर और नए आर्थिक संकटों के कारण छोटानागपुर एवं राजमहल की पहाड़ियों में निवास करने वाले आदिवासियों में आक्रोश व्याप्त होने लगा। यहीं से औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ आदिवासी प्रतिरोध की नई धारा की शुरुआत होने लगी। सदियों से शांत रहे आदिवासी क्षेत्रों में अचानक अशांति का दौर शुरू हो गया। इस बढ़ते प्रतिरोध दूसरा कारण आदिवासी क्षेत्रों में लगातार बाहरी लोगों का प्रवेश होना था। इन बाहरी लोगों में मुख्यतरू सामंतवादी, मारवाड़ी और बंगाली महाजन, साहूकार, ईस्ट इण्डिया कंपनी के कर्मचारी और अफसर आदि थे। जिन्होंने छोटानागपुर के आदिवासी इलाके को 'लूट का क्षेत्र' बना दिया था। "छोटानागपुर में इन बाहरी लोगों को 'दीकू' कहा जाता था, जिसका तात्पर्य उन बाहरी लोगों से थे जो परेशान करते थेरू बाहर वाले पूंजीवादी साहूकार।"[14] आदिवासी समाज जो अपनी आंतरिक स्वायत्तता से जीवन निर्वहन करता आ रहा था। उसमें अब परिवर्तन प्रारंभ होने लगे थे। आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश शक्ति के प्रसार के साथ ही बाहरी शोषक जिनमें साहूकार प्रमुख रूप से घुसपैठ करने लगे थे। ब्रिटिश सत्ता प्रसार और साहूकारों के प्रवेश से आदिवासियों के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन में भीषण हलचल पैदा होने लगी। पहाड़िया "वे आदिवासी किसान थे जिनकी जमीनें छीनकर अंगरेज शासकों ने जमींदारों को सौंप दी थी।"[15] इनकी पूंजीवादी लूट की नीतियों से आदिवासी क्षेत्रों में नये तरीके से ध्रुवीकरण होने लगा। यह ध्रुवीकरण अब दो वर्गों के बीच हो गया एक तरफ, ब्रिटिश अधिकारियों, साहूकारों और बिचौलियों का जो आदिवासियों की जमीनों को छीनते जा रहे थे। दूसरी ओर वे आदिवासियों थे जिनके परम्परागत जंगल, जमीन के अधिकार छिनते जा रहे थे। अकाल जैसे प्राकृतिक संकट आने से आदिवासी रैय्यतों के की आर्थिक स्थिति पूरी तरह से चौपट होने लगी। जिसका चित्रण करते हुए उपन्यासकार लिखता है कि "पहाड़िया अकाल से लड़ रहे थे। जाड़े के मौसम में कुल्थी छींट दी थी। जिस माटी पर में कोई अन्न नहीं उपजता, उस जमीन पर ओस पीकर जो लेती है कुल्थी भी कितने दिन साथ देती?"[16] एक तरफ भीषण अकाल के कारण आदिवासी जनजीवन पर संकट आ पड़ा था तो दूसरी तरफ शोषणकारी और दमनकारी ताकतों ने इन क्षेत्रों में अपनी शक्तियां बढ़ाने में लगी थी। जो आदिवासी अभी तक बिना लगान दिए खेती करता आ रहा था उस पर अब भारी कर दिए जाने पर मजबूर किये जाने लगा था। आदिवासियों में इस बढ़ते शोषण के खिलाफ अब एकजुट होकर प्रतिरोध करना शुरू कर दिया था। जिसका जिक्र करते हुए उपन्यासकार लिखता है कि "जबरा के नेतृत्व में संगठित होने लगे थे पहाड़िया। युद्ध के लिए प्रस्तुत हो रहे थे पहाड़िया। कंपनी पलटन के आक्रमण को झेलने के लिए नहीं वरन् आक्रामक होने की ठान चुके थे पहाड़िया।"[17] आदिवासी अब छोटे–छोटे दल बनाकर सरकारी डाक बंगलों को सीधा आक्रमण करने लगे थे। जंगल के रास्ते से गुजरने वाले साहूकारों, महाजनों और व्यापारियों पर हमला करने लगे। आदिवासियों के इस प्रतिरोध में कई स्थानीय जमींदार भी साथ दे रहे थे। ये वो जमींदार थे जिनकी जमींदारी पर भी औपनिवेशिक शक्तियों के लगान की भारी रकम लगा दी थी। जिसके बारे में उपन्यास का पात्र ब्रिटिश अफसर मार्गेन कहता है कि "कंपनी के भय के कारण ही रजवाड़े–जमींदार स्वयं खुलकर सामने नहीं आना चाहते, परन्तु वे अपने पड़ोसी जमींदारों से पुराने बैर चुकाने के लिए पहाड़ियां आदिवासियों का इस्तेमाल करते हैं। इनसे ही सरंक्षण पाकर पहाड़िया लोगों का साहस बढ़ा है। यह कंपनी के लिए बढ़ा सिरदर्द साबित हो सकता है।"[18]

पहाड़िया आदिवासियों के बढ़ते प्रतिरोध कारण ईस्ट इण्डिया कंपनी के इन क्षेत्रों में भारी संख्या में सैन्य शक्ति को बढ़ा दिया गया। जिसका चित्रण करते हुए उपन्यासकार लिखता है कि "अगला महीना प्रारंभ होने से पूर्व कंपनी के सैन्य सलाहकार जनरल बाकर ने कैप्टन ब्रूक को उसके आस सौ प्रशिक्षित सैनिकों के विशेष दस्ते के साथ जंगलतराई में उतार दिया था। कंपनी का सैन्य–गर्वनर कैप्टन ब्रूक पहाड़िया डकैतों के दमन के लिए अरण्यभूमि की ओर कूच कर गया था।"19 राजमहल की पहाडियों में आदिवासी और ईस्ट इण्डिया कंपनी के बीच संघर्ष शुरू हो गया था। एक तरफ पहाड़िया आदिवासी समुदाय अस्मिता और अस्तित्व व जंगलों, खेतों पर परंपरागत अधिकारों को बचाने के लिए संघर्ष कर रहे थे तो दूसरी तरफ कंपनी अपनी उपनिवेशवादी नीतियों को विस्तार करने में लगी थी। कंपनी के बढ़ते सैन्य अभियानों के चलते आदिवासी क्षेत्रों में हिंसा का माहौल बनने लगा। सदियों से शांत रही राजमहल की पहाड़ियों में अब हिंसा की लपटें फैलने लगी। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद नीतियों को बढ़ाने के लिए कंपनी के सबसे महत्वपूर्ण जंगल ही थे। जहाँ जंगलों में प्राकृतिक संसाधनों होने के साथ जंगलों से होने वाली आय पर कंपनी की नजर पड़ने लगी थी। आदिवासियों के सामाजिक आर्थिक संस्थाओं पर अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए इन क्षेत्रों में कंपनी अधिकारियों ने बर्बर अत्याचार शुरू कर दिया था। ईस्ट इण्डिया कंपनी के सैन्य दस्ते आदिवासी गाँवों में लूटमार करने लगे। जिसका आदिवासियों ने विरोध करना शुरू कर दिया। आदिवासियों और कंपनी के सैनिकों में संघर्ष बढ़ता गया। ईस्ट इण्डिया कंपनी के सैन्य दस्ते आधुनिक हथियारों से लैस होकर जंगलों में उतरते तो दूसरी तरफ आदिवासी अपने पारंपरिक हथियारों से उनका सामना कर रहे थे। "सन् 1770 में पूर्व पहाड़िया आदिवासियों ने खेतउरी जागीदारों को सकरागढ़ क्षेत्र से मार भगाया था। उन दिनों भयंकर अकाल पड़ा था। पहाड़िया लोग सरकारी खजाने को लूटने के लिए विवश हुए।"[20] पहाड़िया आदिवासियों में तिलका मांझी ने नई अलख जगाने का प्रयास किया। तिलका मांझी के नेतृत्व में आदिवासियों के छोटे–छोटे गाँवों से आन्दोलन के लिए युवा लड़ाके तैयार होने लगे थे। इन आदिवासी युवाओं को तिलका मांझी ने कंपनी और स्थानीय शोषकों के बढ़ते अत्याचारों के खिलाफ खड़ा कर दिया। आदिवासियों और कंपनी सेना के मध्य भयंकर रूप से टकराव होने लगे। ईस्ट इण्डिया कंपनी भी किसी भी तरह से इस आन्दोलन को दबाना चाह रही थी, लेकिन कंपनी को किसी भी तरह से सफलता नहीं मिल रही थी। आन्दोलन को तोड़ने के लिए कंपनी हर तरीके से प्रयासरत थी। वहीं आदिवासी पीछे हटने के लिए तैयार नहीं थे। आदिवासियों ने अपने परम्परागत अधिकारों और स्वतंत्रता से किसी तरह का

समझौता करने से इंकार कर दिया। वे लगातार कंपनी सेना से युद्ध करते रहे। ईस्ट इण्डिया कंपनी के कैप्टन ब्राउन को कूटनीति का सहारा लेकर आदिवासियों के बीच में अपनी पैठ बनाने लगा। "ब्राउन (सन् 1774–1778) ने पहाड़िया आदिवासियों को शांत रखने और जंगल तराई में प्रशासन के लिए एक एक योजना बनाई। इस योजना को आगस्ट क्लीवलैंड ने पूरा किया। उन्होंने मलेर पहाड़ियों से संधि की और उनकी शासन व्यवस्था को मान्यता दे दी।"[21] इस आन्दोलन की तीव्रता से घबरा कर कंपनी से आदिवासियों के समझौता करने का प्रयास किया। आगस्ट क्लीवलैंड के द्वारा आदिवासियों की रूढिगत ग्राम सभाओं और परम्पराओं को मान्यता प्रदान की गई। आदिवासियों के न्यायिक और प्रशासनिक व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं करने का वादा किया गया। यह समझौता आदिवासियों के लिए एक तरह से धोखा साबित हुआ। कंपनी की कूटनीति ने आदिवासियों के आन्दोलन को दबा कर वहां पर जमींदारी का विस्तार कर दिया गया। इन जमींदारों को कंपनी ने अपनी तरफ मिलाकर लगान वसूलने का जिम्मा दे दिया। "1770 के दशक में ब्रिटिश अधिकारियों ने इन पहाडियों को निर्मूल कर देने की नीति अपना ली और उनका शिकार और संहार करने लगे। तदोपरान्त, 1780 के दशक में भागलपुर के कलेक्टर आगस्ट क्लीवलैंड ने शांति स्थापना की नीति की जिसके अनुसार पहाड़िया मुखियाओं को एक वार्षिक भत्ता दिया जाना था और बदले में उन्हें अपने आदमियों का चाल–चलन ठीक रखने की जिम्मेदारी लेनी थी। उनसे यह आशा रखी गई थी वे अपनी बस्तियों में व्यवस्था बनाये रखेंगे। लेकिन बहुत सारे पहाड़िया मुखियाओं ने भत्ता लेने से मना कर दिया।"[22] रणेंद्र इस घटनाक्रम के बारे में लिखते हैं कि "पहाड़ियों के उत्तरी भाग के मांझियों ने भत्ता स्वीकार कर लिया था परन्तु दक्षिण भाग के मांझियों ने इसे इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि उन्हें अंबर (पाकुड़) तथा सुल्तानाबाद (महेशपुर) से आक्रमण पर डर रहता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए सितम्बर 1780 में क्लीवलैंड ने उक्त दोनों परगनों (जो उस वक्त राजशाही में थे) को भी अधीन कर देने का सुझाव दिया जिसे 1781 में स्वीकार कर लिया गया था।"[23] प्रारंभ में तो आगस्ट क्लीवलैंड की शांति नीतियों को आदिवासियों ने स्वीकार कर लिया। लेकिन जैसे आदिवासी कंपनी की साम्राज्यवादी नीतियों से परिचित हुए थे वो सशस्त्र क्रांति का आगाज कर दिया। पहाड़ियां आदिवासी गाँवों के अधिकांश मुखियाओं ने कंपनी की अधीनता स्वीकार करने से सीधे तौर पर मना कर दिया। इसके पश्चात् कम्पनी ने नया जमींदारों को लगान इक्कटा करने का कार्य सौंप दिया। जमींदारों को लगान वसूलने का अधिकार मिलने की बाद वे सैन्य शक्ति के माध्यम से कर वसूलने लगे थे। जिससे आदिवासियों की स्थिति और अधिक नाजुक होने लगी। जिसका चित्रण करते हुए उपन्यासकार लिखतें हैं कि "कंपनी के सैन्य दस्ते जंगल तराई में बाढ़ के फैलते पानी की भांति पसरते गए थे। पहाड़िया गाँव खाली होते गये। जो खाली नहीं हो सके थे, वो दमनचक्र के शिकार हो रहे थे। तिलका के लड़ाके प्रतिरोध के दांव की प्रतीक्षा में पीछे हटते गए थे और अब ऊँचे पहाड़ की पहाड़ियां की अंतिम शरणस्थली रहा गए थे।"[24] इसके बारे में अयोध्या सिंह का मत है कि बरसात आने पर अधिकांश विद्रोही अपने पहाड़ी इलाके में चले गये। अधिकृत केन्द्रों की रक्षा के लिए थोड़ी सी सेना छोड़ गये।"[25] पहाड़ियां आदिवासी किसी भी कीमत पर अपनी स्वतंत्रता को नहीं खोना चाह रहे थे। आदिवासी अपने परम्परागत तरीकों से औपनिवेशिक शक्तियों से मुकाबला कर रहे थे। पहाड़िया आदिवासियों के आन्दोलन की तीव्रता के सामने कंपनी सेना कमजोर पड़ने लगी। तत्कालीन वीरभूम के जिला कलेक्टर ने लार्ड कार्नवालिस को पहाड़िया आन्दोलन को दबाने के लिए अधिक सेना की मांग के लिए पत्र लिखा कि "यहाँ हमारी जो सेना है, वह जिले की रक्षा के लिए नाकाफी है। चढ़ाइयों के वक्त परम्परागत दस्ते अनुशासनहीन और हतोत्साह हैं।"[26] उपन्यासकार लिखता है कि "एक अरब सात करोड़ पुरानी राजमहल की वे पहाड़ियां, जिन्होंने सर्वप्रथम उगते सूर्य को देखा था, अपनी आदि संतान पहाड़िया को अपनी पारंपरिक स्वतंत्रता के लिए जन्म–जन्म से संघर्षरत देखा था, अब वे पहाड़ियां गौरांग महा प्रभुओं के समक्ष अपने पहाड़ पुत्रों को विवश होता देख रही थी।"[27] कम्पनी के साम्राज्यवादी और पूंजीवादी नीतियों के साथ साथ सरकारी दमन, महाजनी, सामंती शोषण के खिलाफ आदिवासियों के प्रतिरोध के स्वर तेज होने लगे। राजमहल की पहाड़ियों में सदियों से चली आ रही स्वछन्द हवा में अचानक तेजी आने लगी। शोषण और दमन के खिलाफ आदिवासी एकजुट होकर सीधे कपंनी सेना टकराने लगे थे। अचानक बढे शोषण के खिलाफ आदिवासी हथियार लेकर सामने खड़े हो गए। अत्याधुनिक हथियारों के सामने पहाड़िया आदिवासियों की परम्परागत हथियार कमजोर पड़ते गए। तिलका मांझी के नेतृत्व (1781–82) में आदिवासियों और कंपनी के सैनिकों के मध्य जबरदस्त मुठभेड़ हुई। जिसके बारे में उपन्यासकार लिखता है कि "ईस्ट इण्डिया कंपनी का सहस्त्रशील दैत्य कई–कई जिह्याओं से पहाड़ियों का रक्त चाट रहा था। मृत्यु के कराल डैनों के नीचे निद्रा में सोते जा रहे थे पहाड़ के बेटे।"[28] इस आन्दोलन के अधिकांश आदिवासी लड़ाके मारे गए। तिलका मांझी के बारे में यह माना जाता रहा है कि उनको कंपनी शासन ने युद्ध के आखिरी समय में पकड़ कर फांसी पर लटका दिया। उपन्यासकार इस घटना के बारे में चित्रण करते लिखता है कि "अंग्रेजी साम्राज्यवाद हेतु खतरनाक व्यक्ति को सार्वजनिक रूप से वृक्ष की डाल से फांसी पर लटका कर मार डालने की अभिनव प्रथा के प्रथम प्रयोग का द्रष्टा बना था भागलपुर।"[29] इस घटना के बारे में सी.आर. मांझी का मत है कि "बाबा तिलका मांझी को गिरप्तार करने के बाद अंग्रेजों के प्रधान सेनापति आयरकूट ने उन्हें चार घोड़ों के बीच हाथ–पैर बांधकर सुल्तानगंज से भागलपुर तक घसीटा। इतने लम्बे रास्ते तक घसीटने पर भी जब उनकी मृत्यु नहीं हुई, तब उन्होंने बेरहमी से भागलपुर के चौराहे (वर्तमान तिलका मांझी चौक) पर एक बरगद के पेड़ की डाल से लटकाकर उन्हें फांसी दे दी गई।"[30] तिलका मांझी की फांसी के बाद भी यह आन्दोलन छोटे छोटे दलों के माध्यम से चलता रहा। जिस साम्राज्यवादी औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ जिस संघर्ष का आरम्भ रमना पहाड़िया ने किया था वह तिलका मांझी से संथाल हुल तक जा पहुंचा था। पहाड़िया आदिवासी आन्दोलन अपने जल, जंगल, जमीन के साथ साथ अपने परम्परागत अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ रहे थे। इस आन्दोलन ने व्यापक स्तर पर आदिवासियों में चेतना का प्रसार किया। इस आन्दोलन के बारे में लार्ड क्लाइव में लिखा है कि "निर्दयता और अत्याचारों का सिलसिला कंपनी के कर्मचारियों और उनकी आड़ में यूरोपीय एजेंटों और भारतीय उप एजेंटों ने शुरू किया है, वह इस देश में अंग्रेजों के नाम पर स्थायी कलंक रहेगा।"[31] साम्राज्यवादी, वर्चस्ववादी ताकतों के खिलाफ आदिवासियों का संघर्षशास्त्र श्रृंखलाबद्ध आन्दोलन के रूप में प्राक् औपनिवेशिक काल से वर्तमान समय तक अनवरत चल रहा है। स्वतंत्रता पश्चात् संघर्ष के रूप में बदलाव आ गया हैं लेकिन आदिवासियों के मुद्दे वर्तमान समय में भी वहीं है जिनको लेकर आदिवासी समूह ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लड़ रहे थे। औपनिवेशिक काल से लेकर वर्तमान

तक आदिवासी समूह अपनी अस्मिता व अस्तित्व और जल, जंगल जमीन के साथ साथ परंपरागत अधिकारों, स्वशासन को सुरक्षित एवं सरंक्षित करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। जिसको हिन्दी के साहित्यकारों में अपनी रचनाओं में प्रमुखता से स्थान दिया है। इसी परम्परा में राकेश कुमार सिंह ने अपने उपन्यास 'हुल पहाड़िया' के माध्यम से आदिवासी संघर्षशास्त्र में सामने लेकर आने का सफल प्रयास किया है। इस उपन्यास को ऐतिहासिक ग्रन्थ को नहीं कहा जा सकता हैं लेकिन उपन्यासकार ने घटनाओं को संदर्भित करने का सफल प्रयास किया है। इस उपन्यास में आदिवासियों के सामूहिक संघर्ष का स्वर उभर कर आता है। यह सामूहिक संघर्ष उनकी अस्मिता व अस्तित्व को सुरक्षित एवं सरंक्षित करने का हथियार भी है। औपनिवेशिक काल में आदिवासियों की यह संघर्ष चेतना की परम्परा तिलका मांझी से लेकर सिदो–कानो, बिरसा मुंडा, टंटया भील तक दिखाई देती हैं। आदिवासी संघर्ष की यह चेतना प्रेमचंद के रंगभूमि उपन्यास के नायक सूरदास के 'तब तक लड़ेंगे जब तक जीत नहीं जायेंगे' के स्वर को और भी मजबूती प्रदान करती हैं।

संदर्भ–सूची

1. कुमार, विनोद, आदिवासी संघर्ष गाथा, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, संस्करण–2015, पृ.सं.– 17
2. चन्द्र, बिपिन, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिंदी कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण–1990, पृ.सं.–38
3. चन्द्र, विपिन, मुखर्जी, मृदुला, मुखर्जी, आदित्य, महाजन, सुचेता, पणिक्कर, के.एन. (संपादित) भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ.सं.–14, पेंगुइन प्रकाशन, नई दिल्ली
4. विनोद कुमार, आदिवासी संघर्ष गाथा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण–2015, पृ.सं–45
5. गौतम, पी.एल, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, संस्करण– 2012, पृ.सं.–411
6. सी. आर. मांझी, साकरगढ़ किले पर पहाडियों का कब्ज़ा, आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह (झारखण्ड), गुप्ता, रमणिका (संपादक), सुरभि प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2015, पृ.सं–21
7. सिंह, राकेश कुमार, हुल पहाड़िया, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 2012, पृ.सं–30
8. गुप्ता, रमणिका, आदिवासी शौर्य और विद्रोह (झारखण्ड), (सम्पादित), सुरभि प्रकाशन, प्रथम संस्करण–2015, पृ.सं. – 22
9. गौतम, पी. एल. आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, संस्करण –2012, पृ.सं.–207
10. सिंह, राकेश कुमार, हुल पहाड़िया, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 2012, पृ.सं–45
11. वही, पृ.सं– 104
12. वही, पृ.सं– 47
13. वही, पृ.सं– 106
14. गौतम, पी. एल. आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, संस्करण –2012, पृ.सं.– 412
15. सिंह, अयोध्या, भारत का मुक्ति संग्राम, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण, पृ.सं.–71
16. सिंह, राकेश कुमार, हुल पहाड़िया, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 2012, पृसं.–47
17. वही, पृ.सं.–127
18. वही, पृ.सं–104
19. वही, पृ.सं–108
20. मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण–2012, पृ.सं.–59
21. गुप्ता, रमणिका, आदिवासी शौर्य और विद्रोह (झारखण्ड), (सम्पादित), सुरभि प्रकाशन, प्रथम संस्करण–2015, पृ.सं. –32
22. हमारे अतीत–3, भारतीय इतिहास, भाग–1, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्, दिल्ली, संस्करण–2006, पृ.सं–269
23. रणेंद्र, पाल, सुधीर, हुल गुलानों की प्रतिध्वनियाँ, झारखण्ड इन्साइक्लोपीडिया (खण्ड–1), (सम्पादित), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2012, पृ.सं–100
24. सिंह, राकेश कुमार, हुल पहाड़िया, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 2012, पृ.सं.– 306
25. सिंह, अयोध्या, भारत का मुक्ति संग्राम, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण, पृ.सं.–79
26. विलियम विन्सन हंटर, एनाल्स ऑफ़ रूरल बंगाल, यूनिवर्सिटी ऑफ़ टोरंटो लाइब्रेरी, पृ.सं–79
27. सिंह, राकेश कुमार, हुल पहाड़िया, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण– 2012, पृ.सं.–111
28. वही, 314
29. वही, पृ.सं.–318
30. गुप्ता, रमणिका, आदिवासी शौर्य और विद्रोह (झारखण्ड), (सम्पादित), सुरभि प्रकाशन, प्रथम संस्करण–2015, पृ.सं.–44
31. सिंह, राजेन्द्र, प्रसाद, तिलका मांझी, नयी किताब, दिल्ली, संस्करण–2011, पृ.सं–38